इह पुरागतकेऽस्य च योगता, मुपगताः स्वपदं मुनयो गताः।
इति मतं नुतसाधुबुधार्य ! ते, यदिति सज्जगताप्यवधार्यते।।

आसन परिषह का यह निश्चित अनुपम अद्‌भुत सफल रहा,
हुयें, हो रहे, होंगे जिनवर, इस बिन, सब तप विफल रहा।
बुधजन, मुनिजन से पूजित जिन ! अहोरात तब मत गाता,
अतः आज भी भविकजनों ने धारा उसको नत माथा।।४६।।

अर्थ – यहां वर्तमान, भूत और भविष्यत् काल में जो मुनि इस निषद्यापरीषह के मध्य ध्यानता को प्राप्त हुए वे स्वपद--आत्मपद--मुक्तिधाम को प्राप्त हुए हैं, ऐसा जो आपका मत था वह अब भी विद्यमान जगत् के द्वारा इसी प्रकार माना जाता है।।४६।।

विमुख ! किं बहुना निजभावतः, सभय! हे शृणु चेद् यदि भावतः।
इह युतोऽप्यमुना नतिमागत, ऋषिवरैः श्रय तच्च समा गताः।।

भय लगता है यदि तुझको अब विषयी जन में प्रमुख हुआ,
यह सुन ले तू चिर से शुचितम निज अनुभव से विमुख हुआ।
दृढ़तम आसन लगा आप में होता अन्तर्धान वही,
ऋषिवर भी आ उन चरणों में नमन करें गुणगान यही।।४७।।

अर्थ – अधिक कहने से क्या लाभ है? यदि तू निज स्वभाव से विमुख हो रहा है और यदि चतुर्गति रूप संसार से भयभीत है तो शुद्धभाव से सुन ! इस जगत् में जो इस निषद्यापरिषहजय से सहित है वह भी मुनिवरों से नमस्कार को प्राप्त हुआ है। तू भी उस परिषहजय का आश्रय ले, जीवन के अनेक वर्ष निकल गये हैं।।४७।।

श्रममितः श्रमणोऽत्र भुवि श्रुते, तपसि तत्परतः खलु विश्रुते।
इति मतं निशि यः श्रयते यते, रतिशयं तु जिनाशय ! तेऽयते।।

श्रुतावलोकन आलोड़न से मुनि का मन जब थक जाता,
खरतर द्वादशविध तप तपते साथी तन भी रुक जाता।
आगम के अनुसार निशा में शयन करे श्रम दूर करे,
फलतः हे जिन ! तव सम अतिशय पावे सुख भरपूर खरे।।४८।।

अर्थ – इस वसुधा पर शास्त्राभ्यास और प्रख्यात तप में तत्पर रहने से खेद को प्राप्त हुआ जो साधु रात्रि में शय्या का आश्रय लेता है वह हे शयनरहित जिनेन्द्र ! यति–मुनिरूप आपके अतिशय को प्राप्त होता है, ऐसा सिद्धान्त है।।४८।।

तृणशिलाफलके च सकारणं, भुवि तुरीयव्रतोन्नतिकारणम्।
न हि दिवा शयनं निशि यामकं, स कुरुते मुनिको विनियामकम्।।

भू पर अथवा कठिन शिला पर काष्ठ फलक पर या तृण पे,
शयन रात में अधिक याम तक, दिन में नहिं, संयम तन पे।
ब्रह्मचर्य व्रत सुदृढ़ बनाने यथाशक्ति यह व्रत धरना,
जितनिद्रक हो हितचिन्तक हो अतिनिद्रा मुनि मत करना।।४९।।

अर्थ – षष्ठगुणस्थानवर्ती मुनि स्वाध्यायादिजनित खेद को दूर करने तथा ब्रह्मचर्य व्रत की उन्नति के लिये पृथिवी, तृण, शिला अथवा काष्ठफलक पर शयन करते हैं। दिन में शयन नहीं करते और रात्रि में भी स्वच्छन्दता पूर्वक अधिक समय तक शयन नहीं करते।।४९।।

स उपसर्ग इहाजगता सुरै, र्जडजनै गुणभिर्महताऽसुरैः।
निशि न चैति मुनिस्तु पदान्तरं, ह्यविचलं सत एव सदान्तरम्।।

मुनि पर यदि उपसर्ग कष्ट हो हृदय शून्य उन मानव से,
धर्म-भाव से रहित, सहित हैं वैर-भाव से दानव से।
किन्तु कभी वे निशि में उठकर गमन करें अन्यत्र नहीं,
अहो अचल दृढ़ हृदय उन्हीं का दर्शन वह सर्वत्र नहीं।।५०।।

अर्थ – पृथिवी पर अचेतन, देव, अज्ञानिमानव, मन से द्वेष रखने वाले गुणीजन, राज्य अथवा दानवों के द्वारा उपसर्ग किये जाने पर मुनि रात्रि में दूसरे स्थान पर नहीं जाते। उसी स्थान पर रहते हुए उन मुनि का अन्तःकरण अविचल रहता है।।५०।।

विजितनिद्रक एव सदा दरं, त्यजति चेदमरर्द्धिसदादरम्।
यदुपपत्तयेयिच्छितभोजनं, रसयुतं प्रजहाति च भो ! जन।।

सप्तभयों से रहित हुआ है जितनिद्रक है श्रमण बना,
शय्या परिषह वही जीतता दमनपना पा शमनपना।
निद्राविजयी बनना यदि है इच्छित भोजन त्याग करो,
इन्द्रियविजयी बनो प्रथम तुम रसतज निज में राग करो।।५१।।

अर्थ – हे साधुजन ! निद्रा को जीतने वाला ही रादा भय को छोड़ता है तथा देव सम्बन्धी वैभव में रामीचीन आदरभाव का परित्याग करता है। शय्यापरिषहजय की उपपत्ति–प्राप्ति के लिये रसीले इच्छित भोजन का भी त्याग करता है।।५१।।

ससमयञ्च मुनेश्शयनं हितं, शयनमेवमटेच्छयनं हि तत्।
समुदितेऽप्यरुणे ह्युदयाचलेऽप्युडुदलो न हि खे सदयाऽचलेत्।।

यथासमय जो शयन परीषह तन रति तजकर सहता है,
निद्रा को ही निद्रा आवे मुनि मन जागृत रहता है।
समुचित है यह प्रमाद तज रवि उदयाचल पर उग आता,
पता नहीं कब कहाँ भागकर उडुदल गुप लुप छुप जाता।।५२।।

अर्थ – हे सदय ! दयायुक्तसाधो ! समयानुरूप शयन मुनि के लिये हितकारी है। इस तरह शयन ही शयन (शय्या) को प्राप्त होता है। उचित ही है क्योंकि उदयाचल पर सूर्य के उदित होने पर नक्षत्र–समूह आकाश में रात्र और नहीं चलता किन्तु अस्त हो जाता है।।५२।।

उपगता अदयैरुपहासतां, कलुषितं न मनो भवहाः ! सताम्।
शमवतां किमु तत् बुधवन्दनं, न हि मुदेऽप्यमुदे जडनिन्दनम्।।

असभ्य पापी निर्दय जन वे करते हों उपहास कभी,
किन्तु न होता मुनि के मन की उज्ज्वलता का नाश कभी।
तुष्ट न होते समता-धारक सुधीजनों के वन्दन से,
रुष्ट न होते शिष्ट साधुजन कुधीजनों के निन्दन से।।५३।।

अर्थ – सत्पुरुष, निर्दय मनुष्यों के द्वारा उपहास–अनादर को प्राप्त होते हैं परन्तु उससे उनका मन कलुषित नहीं होता। विद्वानों का नमस्कार साधुओं के लिये क्या है? अर्थात् कुछ भी नहीं है तथा अज्ञानीजनों के द्वारा की हुई निन्दा न उनके हर्ष के लिये होती है और न अहर्ष–अप्रीति के लिये।।५३।।

कटुककर्कशकर्णशुभेतरं, प्रकलयन् स इहासुलभेतरम्।
वचनकं विबुधस्त्विव विश्रुतिर्बलयुतोऽप्यबलश्च भुवि श्रुतिः।।

क्रोध जनक हैं कठोर, कर्कश, कर्ण कटुक कुछ वचन मिले,
निहार वेला में सुनने को अपने पथ पर श्रमण चले।
सुनते भी पर बधिर हुए-से आनाकानी कर जाते,
सहते हैं आक्रोश परीषह अबल, 'सबल होकर' भाते।।५४।।

अर्थ – आक्रोशपरिषह को सहन करने वाले ज्ञानी मुनिराज इस जगत् में सुलभ, कटुक, कठोर और कानों के लिये अप्रिय निन्द्यवचन की ऐसी उपेक्षा करते हैं मानो उन्होंने सुना भी न हो, बहरे हों। इसीलिये पृथिवी पर ऐसी श्रुति प्रसिद्ध हुई कि वह बलसहित होकर बलरहित थे।।५४।।

गतमलो विरसस्त्विति कारणात्, वचनतः पृथगस्मि च कारणात्।
मम न हानिरतोऽस्तु सुचिन्तति, प्रलभतेऽत्रे मुनेः स्वशुचिं ततिः।।

इन्द्रियगण से रहित रहा हूँ मल से रस से रहित रहा,
रहा इसी से पृथक् वचन से चेतन बल से सहित रहा।
निन्दन से फिर हानि नहीं है विचार करता इस विध है,
प्रहार करता जड़विधि पे मुनि निहारता निज बहुविध है।।५५।।

अर्थ – मैं मल से रहित हूँ और रस से रहित हूँ, इस कारण दुष्टजन के वचन तथा कारण– वध से मेरी कुछ भी हानि नहीं है, ऐसा चिन्तवन करते हैं। इस प्रकार के चिन्तन से मुनियों का समूह आत्मशुद्धि को अच्छी तरह प्राप्त होता है।।५५।।

कुमतिभिर्दलितोऽपि सखेदितः, सुपथवञ्चित एव सखेऽर्दितः।
अविरतो विमुखः प्रतिकारतः, जयतु यस्य स वै समकारतः।।

सही मार्ग से भटक चुके हैं चलते-चलते त्रस्त हुए,
भील, लुटेरों, मतिमन्दों से घिरे हुए दुःखग्रस्त हुए।
उनका न प्रतिकार तथापि करते यति जयवन्त रहे,
समता के हैं धनी-गुणी हैं पापों से भयवन्त रहे।।५६।।

अर्थ – यदि मुनिराज मिथ्यादृष्टियों – मतद्वेषी लोगों के द्वारा खिन्न किये जाते हैं, तथा समीचीन मार्ग भूलकर कुश तथा कंटकाकीर्ण वनक्षेत्र में चलकर खेद पाते हैं तो भी वे अपने गृहीतमार्ग संयम की साधना से विरत नहीं होते हैं। आई विपत्ति का प्रतिकार भी नहीं करते। समताभाव से युक्त रहते हैं ऐसे मुनि जयवन्त रहें।।५६।।

फलमिदं तु पुराकृतशावरे, समुदिते न पराकृतशावरे।
इह परे प्रभवो व्यवहारतः, स मनुते हि निजेऽव्रतहा रतः।।

मोह-भाव से किया हुआ था पाप पाक यह उदित हुआ,
पर का यह अपराध नहीं है उपादान खुद घटित हुआ।
पर का इसमें हाथ रहा हो निमित्त वह व्यवहार रहा,
अविरति-हन्ता नियमनियन्ता कहते जिनमतसार रहा।।५७।।

अर्थ – यह उपसर्गरूप फल पूर्वकृत पाप के उदित होने पर प्राप्त हुआ है न कि अन्यकृत अपराध के होने पर। इस जगत् में परपदार्थ में जो कारण का कथन होता है वह व्यवहार–उपचार से होता है। निजात्मा में लीन साधु ऐसा मानते हैं।।५७।।

तनुरुषोऽरुणताऽशुचिसागरा, वधमिता भवदाशु च सा गरा।
मम ततः क्षतिरस्ति न काचन, चरणबोधदृशो ध्रुवकाश्च न !।।

काया लाली रही उषा की अशुचिराशि है लहर रही,
भवदुःखकारण, कारण भ्रम का शरण नहीं है जहर रही।
इसका यदि वध हो तो हो पर इससे मेरा नाश कहाँ?
बोध-धाम हूँ चरण सदन हूँ दर्शन का अवकाश यहाँ।।५८।।

अर्थ -- वध का प्रसंग आने पर साधु ऐसा विचार करता है कि हे जिन ! मेरा वह शरीर प्रातःकाल की लालिमा है। अशुचिता का सागर उसमें लहरा रहा है, भव को देने वाला है अथवा वर्तमान पर्याय को नष्ट करने वाला है और सब ओर से विषरूप अथवा रोगों से सहित है। ऐसा शरीर यदि वध को प्राप्त हो रहा है तो इससे मेरी कुछ भी हानि नहीं है क्योंकि मेरे दर्शन, ज्ञान और चारित्र ध्रुवरूप हैं – नष्ट नहीं हुए हैं।।५८।।

विविधकर्मलयास्रवहेतवः, किल हिताहितका जड़ हे ! तव।
पथि सतीति मुनेर्मुनिचालकाः, सुकथयन्त्यनघा घविचालकाः।।

बहुविध विधि का संवर होने में हित निश्चित निहित रहा,
पापास्रव में कारण होता शिवपथ में वह अहित रहा।
अन्ध मन्दमति ! वधक नहीं ये बाह्यरूप में साधक हैं,
पाप पुण्य के भेद जानते कहते मुनिगण-चालक हैं।।५९।।

अर्थ – वध का प्रसंग आने पर मुनि इस प्रकार आत्मसंबोधन करते हैं – हे अज्ञ आत्मन् ! नाना प्रकार के कर्मों के संवर और आस्रव में कारणभूत जो भाव हैं वे ही यथार्थतः कल्याणमार्ग में तेरे मित्र और शत्रु हैं। अर्थात् जो संवर के कारण हैं वे हित रूप हैं और जो आस्रव के कारण हैं वे अहितरूप हैं। इस तरह पुण्य–पाप का विचार करने वाले आचार्य कहते हैं।।५९।।

वसतिकाप्रभृतेर्नहि याचना-मृषिरिहायति दीनतया च ना!
यदनया लयते निजतन्त्रता, न भजिता विदुषा परतन्त्रता।।

अशन वसतिकादिक की ऋषिगण नहीं याचना करते हैं,
तथा कभी भी दीन-हीन बन नहीं पारणा करते हैं।
निजाधीनता फलतः निश्चित लुटती है यह अनुभव है,
पराधीनता किसे इष्ट है वही पराभव, भव-भव है।।६०।।

अर्थ – इस जगत् में ऋषिपदधारी मनुष्य दीनता से वसतिका आदि की याचना नहीं करता क्योंकि इस याचना से स्वाधीनता नष्ट हो जाती है। तथा विद्वान् के द्वारा परतन्त्रता का सेवन नहीं होता।।६०।।

यदनुवृत्ति ऋषिं हि सदोषतां, नयति चैव लयं गतदोषताम्।
उडुपतिर्ग्रसितो निशि केतुना, त्विति विचिन्त्य वसेन्निजके तु ना।।

निज पद गौरव तज यदि यति हो मनो-याचना करते हैं,
दर्पण सम उज्ज्वल निज पद को पूर्ण कालिमा करते हैं।
शुचितम शशि भी योग केतु का पाकर ही वह शाम बने,
यही सोचकर साधु सदा ये निज में ही अविराम तने।।६१।।

अर्थ – याचना का अनुसरण साधु को सदोषता प्राप्त कराता है और निर्दोषता को नष्ट करता है। जिस प्रकार रात्रि में राहू के द्वारा ग्रसित चन्द्रमा सदोषता को प्राप्त होता है उसी प्रकार याचना से ग्रसित साधु सदोषता को प्राप्त होता है। ऐसा विचारकर मनुष्य को निजात्मा में ही निवास करना चाहिये।।६१।।

सुकुफलं मिलतीह नियोगतः, स्वयमयाचितकं विधियोगतः।
अथ मुने ! भव हे त्वमयाचक-श्चलिततत्त्वविधिर्भुवि याचकः।।

बिना याचना, कर्म उदय से यह घटना निश्चित घटती,
कभी सफलता, कभी विफलता भेद-भाव बिन बस बटती।
इसीलिए मत याचक बनना भूल कभी बन भ्रान्त नहीं,
याचक बनता नहीं जानता कर्मों का सिद्धान्त सही।।६२।।

अर्थ–इस जगत् में कर्मयोग से अच्छा–बुरा फल नियम से स्वयं मिलता है। अतः हे मुने ! तुम अयाचक रहो किसी वस्तु से याचना न करो। इसके विपरीत यदि याचक होते हो तो निश्चित ही तुम तत्त्वश्रद्धा से विचलित होगे।। ६२।।

व्रजति चैव मुनिमृगराजतां, जितपरीषहको मुनिराजताम्।
इति न चेल्लघुतामुपहासतां, सुगत एव गतोऽशुभहा सताम्।।

याञ्चा परिषह विजयी मुनिवर-समाज में मुनिराज बने,
स्वाभिमान से मंडित जिस विध हो वन में मृगराज तने।
याञ्चा विरहित यदि ना बनता जीवन का उपहास हुआ,
विरत हुआ पर बुध कहते वह गुरुता का सब नाश हुआ।।६३।।

अर्थ–परीषहों को जीतने वाला मुनि ही सिंह के समान स्वात्मनिर्भरता और मुनियों के आधिपत्य को प्राप्त होता है। यदि इसके विपरीत है तो अशुभ को नष्ट करने वाला मुनि ज्ञानी होने पर भी लघुता और सतपुरुषों के बीच उपहास को प्राप्त होता है।।६३।।

अनियतं विहरन्नपि स क्षमः, शृणु कृतानशनः खलु सक्षमः।
अलभमान ऋषिर्ह्यशनं कर ! सुलभमान इवाऽऽवदनंकरः।।

अनियत विहार करता फिर भी निर्बल सा ना दीन बने,
तथा किया उपवास तथापि परवश ना ! स्वाधीन बने।
भोजन पाने चर्या करता पर भोजन यदि नहिं मिलता,
विषाद करता नहिं पर, भोजन मिला हुआ-सा मुख खिलता।।६४।।

अर्थ–हे कर ! हे सुखद ! सुनो क्षमाधर्म से विभूषित मुनि अनियत विहार करते हुए तथा उपवास से युक्त होते हुए भी अपनी दिनचर्या में समर्थ रहते है। आहार न मिलने पर भी उनका मुख आहार मिलने वाले के मुख के समान अत्यन्त प्रसन्न रहता है।।६४।।

रसयुते मिलिते न हि नीरसे, परिगतो विरतिं स मुनीरसे।
प्रमुदितः क्षुभितो न हि मे विधेः, प्रतिफलं त्विति वै मनुते विधे!।।

इष्टमिष्ट रस-पूरित भोजन मिलने पर हो मुदित नहीं,
अनिष्ट नीरस मिलने पर भी दुःखित नहीं हो क्रुधित नहीं।
सहित रहा संवेग भाव से सर्व रसों से विरत बना,
चिंतन करता यह सब विधिफल साधु गुणों से भरित बना।।६५।।

अर्थ–हे विधाता ! घृतदुग्धादिरसों में विरक्ति को प्राप्त हुआ मुनि सरस अथवा नीरस आहार के मिलने पर प्रसन्न अथवा कुपित नहीं होता। किन्तु यह हमारे कर्म का फल है, निश्चय से ऐसा मानता है।।६५।।

श्रुतिसुधामशनं समितातपः, स समुपात्ति शमी शमितातप !
उपरि दृश्यत एव सदाऽसुखी, कृशतनु र्ह्यतनौ विमदा सुखी।।

करते श्रुतमय सुधापान हैं द्वादशविध तप अशन दमी,
दमन कर रहे इन्द्रिय तन का कषायदल का शमन शमी।
केवल दिखते बाहर से ही क्षीणकाय हो दुखित रहे,
भीतर से संगीत सुन रहे जीत निजी को सुखित रहे।।६६।।

अर्थ – हे शमि–तात–प ! हे जितेन्द्रिय–दयापात्र शिष्यों के रक्षक भगवन् ! लोकोत्तर शान्ति से युक्त वे मुनिराज शास्त्ररूपी सुधा और सम्यक् तपरूप आहार का अच्छी तरह उपभोग करते हैं। कृश शरीर वाले वे मुनि बाहर से ही सदा दुःखी दिखाई देते हैं। आत्मा में तो मद रहित सुख सम्पन्न ही रहते हैं।।६६।।

बुधनुतः स मुनिप्रवरो गतः, सभ्यतां नितरां भवरोगतः।
न हि बिभेति सुधीस्तनुरोगतः, स्तुतिरतो जिन ! ते गतरोगतः।।

जनन जरा और मरण रोग से श्वास-श्वास पर डरता है,
जिसके चरणों में आकर के नमन विज्ञ-दल करता है।
दृष्कृत फल है दुस्सह भी है महा भयानक रोग हुआ,
प्रभु पदरत मुनि नहिं डरता है धरता शुचि उपयोग हुआ।।६७।।

अर्थ – हे जिन ! जन्मजरामरणरूपसंसार सम्बन्धी रोग से अत्यन्त भय को प्राप्त, बुधस्तुत श्रेष्ठ मुनि शरीरसम्बन्धी रोग से भयभीत नहीं होता। वह तो रोगरहित होने से आपकी भक्ति में लीन रहता है।।६७।।

विधिदलाः बहुदुःखकरामया, बहव आहुरपीह निरामयाः।
अशुचिधामनि चैव निसर्गतः, क्षरणमेव विधेरूपसर्गतः।।

सभी तरह के रोगों से जो मुक्त हुए हैं बता रहे,
कर्मो के ये फल हैं सारे, खारे जग को सता रहे।
रोगों का ही मन्दिर तन है अन्दर कितने पता नहीं,
उदय रोग का, कर्म मिटाता ज्ञानी को कुछ व्यथा नहीं।।६८।।

अर्थ – स्वभाव से ही अपवित्रता के स्थानभूत इस शरीर में अनेक दुःखप्रद रोगों को करने वाले कर्मसमूह विद्यमान हैं, ऐसा रोगरहित जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं। उपसर्ग से तो कर्म की निर्जरा ही होती है।।६८।।

सुरभिचंदनलेपनरञ्जनात्, विरहितोऽपि सुधी र्मुनिरञ्जनात्।
अनघभेषजकं तु विधेयकं, भजतु रोगलयाय विधेऽयकम्।।

सुगन्ध चन्दन तैलादिक से तन का कुछ संस्कार नहीं,
वसनाभूषण आभरणों से किसी तरह शृंगार नहीं।
फिर भी तन में रोग उगा हो पाप कर्म का उदय हुआ,
उसे मिटाने प्रासुक औषध मुनि ले सकता सदय हुआ।।६९।।

अर्थ – हे विधे ! यह विवेकवान् मुनि, सुगन्धित चन्दन के विलेपनरूप अंगराग तथा नेत्रों के कज्जल से रहित होने पर रोग का नाश करने के लिये योग्य निर्दोष औषध का सेवन कर सकता है।।६९।।

ध्रुवममुं मुनिना भजतामितं, सुकृतजं निजकं स्ववता मितम्।
प्रणिहितं बहुना किमु सादरं, विजहतं श्रय तं सहसा दरम्।।

रोग परीषह प्रसन्न मन से जो मुनि सहता ध्रुव ज्ञाता,
सुचिरकाल तक सुरसुख पाता अमिट अमित फिर शिव पाता।
अधिक कथन से नहीं प्रयोजन मरण भीति का नाश करो,
सादर परिषह सदा सही बस ! निजी नीति में वास करो।।७०।।

अर्थ – ध्रुव–नित्य निज आत्मा की रक्षा करो, इस रोगपरिषह को सहते और उसके फल स्वरूप पुण्य से उत्पन्न स्वर्गादिक के मित–सीमित तथा अमित–अपरिमित आत्मसुख को प्राप्त होने वाले मुनि ने जिसे धारण किया है–सहन किया है उस रोगपरिषह को आदरसहित सहन कर और प्रसिद्ध भय को नष्ट कर। अधिक कहने से क्या प्रयोजन है?।। ७०।।

यदि तृणं पदयोश्च निरन्तरं, तुदति लाति गतौ मुनिरन्तरम्।
तदुदितं व्यसनं सहतेऽञ्जसा-हमपि सच्च सहे मतितेजसा।।

तृण कंटक पद में वह पीड़ा सतत दे रहे दुखकर हैं,
गति में अंतर तभी आ रहा रुक-रुक चलते मुनिवर हैं।
उस दुस्सह वेदन को सहते-सहते रहते शान्त सदा,
उसी भाँति मैं सहूँ परीषह शक्ति मिले, शिव शान्ति सुधा।।७१।।

अर्थ–यदि कण्टकादि तृण पैरों में निरन्तर पीडा करता है और गति में अन्तर–व्यवधान लाता है तो मुनि उससे उत्पन्न कष्ट को वास्तव में सहन करते हैं। मैं भी भेदज्ञान के प्रताप से उस विद्यमान कष्ट को सहन करता हूँ।।७१।।

विकचपुष्पचया विलसन्ति ते, परिवृता अलिभिस्त्विह सन्ति तैः।
विषमशूलतृणादिहता विधे ! ह्यविकला न चलाः सुगता विधेः।।

खुले खिले हों डाल-डाल पर फूल यथा वे हँसते हैं,
जिनकी पराग पीते अलि-दल चुम्बन लेते लसते हैं।
विषय, विषमतर शूल तृणों से आहत हैं पर तत्पर हैं,
निज कार्यों में बिना विफल हो कहते हमसे तन पर हैं।।७२।।

अर्थ–तृणस्पर्श आदि की बाधा उपस्थित होने पर मुनि विचार करते हैं कि हे ब्रह्मन् ! इस जगत् में सुगन्धलोभी भ्रमरों से घिरे जो विकसित पुष्पों के समूह सुशोभित हो रहे हैं वे विषम कण्टक तथा तृण आदि से आहत–विद्ध होकर भी दुःखी नहीं होते हैं और न अपने कार्य से विचलित होते हैं।।७२।।

विचरणे शयनासनयोः सतः, सुखमुदेति सुखात् मृगयो ! षतः।
शमसुखोदधिरेव विरागतः, त्वकवते जगते बहिरागतः।।

कठिन-कठिनतर शयनासन में कंटक पथ पर विचरण में,
सुख ही सुख अवलोकित होता मुनियों के आचरणन में।
भीतर से बाहर आने को शम सुख सागर मचल रहा,
दुखित जगत को सुखित बनाने यतन चल रहा सकल रहा।।७३।।

अर्थ–हे ब्रह्मन् ! विहार करने वाले साधु के विहार, शयन और आसन में सुख से सुख ही उत्पन्न होता रहता है अर्थात् कष्ट होने पर भी उनकी प्रसन्नता स्थिर रहती है। ऐसा जान पड़ता है मानों उनके भीतर जो शम और सुख का सागर लहरा रहा है वह विरागता के कारण दुःखी संसार को सुखी करने के लिये ही बाहर आ गया है।।७३।।

यदि कदाचिदतो हृदि जायते, वपुषि चाकुलता विधिजा यतेः।
न हि विना यदनेन विसातनं, त्विति विधेः समयेऽन्यदसाधनम्।

कभी-कभी आकुलता यदि हो मन में तन में वेदन हो,
प्रतिफल हो, 'फल कर्मचेतना' चेतन में पर खेद न हो।
बिना वेदना प्रथम दशा में कर्मों का वह क्षरण नहीं,
समयसार का गीत रहा यह औ सब बाधक शरण नहीं।।७४।।

अर्थ–यदि कदाचित् मुनि के हृदय और शरीर में कर्मोदय से समुत्पन्न आकुलता होती है तो वह इस प्रकार चिन्तवन करता है कि परिषह के बिना कर्म की निर्जरा नहीं होती। आगम में इसके अतिरिक्त अन्य को निर्जरा का असाधन कहा है।।७४।।

परिमलं गुणवन्निजभावि त-दचलवस्तु मया किल भावितम्।
मलमलं हि ततोऽत्र भवस्तुत ! मुनिनुतं शुचिवस्तु तु वस्तुतः।।

निज भावों से भावित भाता भासुर गुणगण शाला है,
परिमल पावन पदार्थ प्यारा अनुभवता रस प्याला है।
फिर यह तन तो स्वभाव से ही मल है मल से प्यार वृथा,
मुनियों से जो वंदित है सुन ! शुद्ध-वस्तु की सार कथा।।७५।।

अर्थ–जो ज्ञानादि गुणों से सहित है, निजभाव से युक्त है और मैं जिसकी निरन्तर भावना करता हूँ वह अविनाशी आत्मवस्तु ही निश्चय से मनोहारी सुगन्ध है। हे भवस्तुत ! हे सर्वलोकवन्दित भगवन् ! इस शरीर पर जो मल–मैल संलग्न है वह व्यर्थ है–उसकी क्या चिन्ता करना है परमार्थ से मुनियों के द्वारा स्तुत आत्मरूप वस्तु ही शुचि–पवित्र है।।७५।।

पलमलैर्निचिता धिगचेतना, प्रकृतितो दुरभेश्च निकेतना।
मलजनीस्तनुरीशविभाषिता, तदनुगा तु सतोऽपि विभा सिता।।

स्वभाव से ही रहा घृणास्पद रहा अचेतन यह तन है,
पल से मल से भरा हुआ है क्यों फिर इसमें चेतन है ?
तन से निशिदिन झरती रहती अशुचि, सुनो जिनश्रुति गाती,
देह राग से श्रमणों की उस विराग छवि ही क्षति पाती।।७६।।

अर्थ–भगवज्जिनेन्द्र के द्वारा जिसका स्वरूप कहा गया है ऐसा यह शरीर मॉस और मैल से व्याप्त है, अचेतन है, स्वभाव से दुर्गन्ध का घर है और मल को उत्पन्न करने वाला है ऐसे शरीर को धिक्कार हो। इस शरीर का अनुगमन करने वाली साधु की विभा–दीप्ति–प्रतिष्ठा भी समाप्त हो जाती है।।७६।।

कृतपनाङ्गजरञ्जितदेहकः, सहरजोमलको गतदेहक !।
मलपरीषहजित् स्वसुधारकः, विरसपादपभावसुधारकः।।

तपन-ताप से तप्त हुआ तन स्वेद कणों से रंजित हो,
रज कण आकर चिपके फलतः स्नान बिना मल संचित हो।
मल परिषह तब साधु सह रहा सुधा पान वे सतत करें,
नीरस तरु सम तन है जिनका हम सब का सब दुरित हरें।।७७।।

अर्थ – हे सिद्धभगवन् ! जिसका शरीर सूर्य के संताप से उत्पन्न पसीना से युक्त है, जो धूलि और मल से रहित है, आत्म सुधा का पान करने वाला है और जो शरीर को सूखे वृक्ष के समान समझ रहा है ऐसा साधु ही मलपरीषह को जीतने वाला होता है।।७७।।

बलयुतोऽपि मुनिः स्वतनोर्मलं, न हि निवारयति ह्यतनोऽमल !
चिति चिदस्मि सदास्तु मले मलं, वदति तत्कमलं कमलेऽमलम्।।

कंचन काया बन सकती है ऋद्धि-सिद्धि से युक्त रहा,
तन का मल मुनि नहीं हटाता मल से तन अतिलिप्त रहा।
चेतन मैं हूँ, चेतन में हूँ यथार्थ मल तो मल में है,
कहता जाता कमल कमल में कहने भर को जल में है।।७८।।

अर्थ– हे अशरीर ! निर्मल ! परमात्मन् ! मुनि, बल सहित होने पर भी शरीर का मैल दूर नहीं करते हैं। वे विचार करते हैं कि मैं चैतन्यरूप हूँ तथा चैतन्य में ही निवास करता हूँ। इसी प्रकार मैल, मैल में रहता है आत्मा में नहीं। यह रहस्य कमल में रहने वाला निर्मल कमल बताता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार परमार्थ से निर्मल कमल कमल में रहता है और व्यवहार से जल में रहता है उसी प्रकार पौद्गलिक मैल पौद्गलिक शरीर में रहता है आत्मा में नहीं; अतः मुनिराज उसे दूर करने का विचार नहीं करते।।७८।।

विनयशंसनपूजनकादरमलभमानमुनिः ह्यनिरादरः।
अविरतैर्व्रतिभिर्मदभावत-श्च्युतविकारललाटविभावतः।।

अविरत जन या व्रती पुरुष यदि अपने से विपरीत बने,
आदर ना दे, करे अनादर यदि बनते अविनीत तने।
किन्तु मुनीश्वर लोकेषण से दूर हुए भवभीत हुए,
विकार विरहित ललाट उनका रहता वे जग मीत हुए।।७९।।

अर्थ – अहंकार के कारण अव्रती तथा व्रतीजनों के द्वारा विनय, स्तुति, पूजन एवं आदर को प्राप्त न होने वाला मुनि अपने आपका अनादर नहीं मानता और न क्रोध आदि से ललाट के ऊपर कोई विकार प्रकट करता है।।७९।।

जगति सत्त्वदलः सकलश्चलः, परिमलो विकलः सकलो ऽचलः।
समगुणैर्भरितो भत आर्य ! ते, गुरुरयं स लघुर्त्ववधार्यते।।

अमल, समल हैं सकल जीव ये ऊपर, भीतर से प्यारे,
अगणित गुणगण से पूरित सब 'समान' शीतल शुचि सारे।
मैं 'गुरु' तू 'लघू' फिर क्या बचता परिभव-परिषह बुध सहते,
आर्य देव अनिवार्य यही तव मत गहते सुख से रहते।।८०।।

अर्थ – हे आर्य ! आपके मन में त्रस, स्थावर, सुगन्धित, कलाहीन और कलासहित–सभी प्राणि समूह (द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा) समान गुणों से परिपूर्ण हैं, अतः 'यह गुरु है और वह लघु है' यह कैसे निश्चित किया जाय?।।८०।।

यदि यदा विनये मिलिते सति, मदमिता न मतिः सुमते सती।
निजकगर्भगताखिलमानता, प्रलयकाय तु दक्षतमा नता।।

कभी प्रशंसा करे प्रशंसक विनय समादर यदि करते,
नहीं मान-मद मन में लाते, मन को कलुषित नहिं करते।
प्रत्युत अन्दर घुस कर बैठा मान-कर्म के क्षय करने,
साधु निरंतर जागृत रहते निज को शुचि अतिशय करने।।८१।।

अर्थ – विनय के प्राप्त होने पर यदि साधु की बुद्धि मद को प्राप्त नहीं होती, किन्तु सुमते–उ त्तम मत में रहती है तो वह श्रेष्ठ है। अपने आप में समस्त अभिमानों–ज्ञान–पूजा–कुलजाति आदि से उत्पन होने वाले मान का रहना प्रलय–विनाश के लिये होता है। इसके विपरीत नम्रवृत्ति अथवा बुद्धि अत्यन्त श्रेष्ठ होती है।।८१।।

गणधरैः प्रणतोऽस्ति यदा स्वयं, समितिषूपपरतः सुखदास्वयम्।
किमु तदाप्यसतां प्रणते र्नुते,-रिति वदन्ति बुधाः सुमते, नु ते।।

निरालसी यति समिति गुप्ति में जब हो रत मन शमन करें,
गणधर आदिक महामना भी उनको मन से नमन करें।
मानी मुनिजन नमनादिक यदि नहिं करते मत करने दो,
अर्थ नहीं उसमें, जिन कहते 'यह परिषह' अघ हरने दो।।८२।।

अर्थ – सुखदायक समवसरणादि सभाओं में बैठने वाला मुनि जब गणधरों के द्वारा साक्षात् नमस्कार को प्राप्त होता है तब उसे अन्य असत् पुरुषों के नमन और स्तवन से क्या प्रयोजन है? ऐसा हे भगवन् ! आपके श्रेष्ठ मत में विद्वान् कहते हैं।।८२।।

बुधनुता जिनशास्त्रविशारदा, वसति यद् वदने शुचिशारदा।
अकवते जगतेऽमृतसारदा, गतमदाऽसुमतोऽडुकशारदा।।८३।।

जिन श्रुत में हैं पूर्ण विशारद सम्मानित हैं बुधगण में,
भाग्य मानकर सदा शारदा रहती जिनके आनन में।
मानहीन हैं, स्वार्थहीन हैं दुःखी जगत को अमृत पिला,
पर मततारकदल में शीतलशशि हैं यश की अमिट शिला।।८३।।

अर्थ – विद्वानों के द्वारा स्तुत, जिनशास्त्रों में निपुण, पाप अथवा दुःखयुक्त जगत् के लिये अमृत अथवा मोक्षरूपी सार को देने वाली, अन्यवादियों का गर्व नष्ट करने वाली तथा दुर्मतारूप नक्षत्रों के मध्य चन्द्रमा के समान शोभायमान पवित्र जिनवाणी जिसके मुख में निवास करती है वही विद्वान् है।।८३।।

समय ! याववदो न ! हि केवलं, ह्युदयतीह तरां न हि केवलम्।
त्वमसि तावदहो ननु मानतः, शृणु लघुश्च तदा किमु मानतः।।

अन्तराय का अन्त नहीं हो अतुल अमिट बल मुदित नहीं,
जब तक तुममें अनन्त अक्षय पूर्ण ज्ञान हो उदित नहीं।
ज्ञान क्षेत्र में तब तक निज को लघुतम ही स्वीकार करो,
तन-मन-वच से ज्ञान-मान का प्रतिपल तुम धिक्कार करो।।८४।।

अर्थ – हे पूज्य ! हे सिद्धान्त के ज्ञाता ! जब तक लोकालोक को प्रकाशित करने वाला वह अद्वितीय केवलज्ञान उदित नहीं होता है तब तक तुम ज्ञान से लघु–हीन ही हो; अतः मान–गर्व करने से क्या प्रयोजन है? इसे सुनो।।८४।।

स्वसमयस्य सतोऽप्यनुवादकः, समययुक्तितया जितवादकः।
परिवदेन्न मुनिर्मनसाक्षर-मसि निरक्षर एष तु साक्षरः।।

अवलोकन-अवलोड़न करते जिनश्रुत के अनुवादक हैं,
वादीजन को स्याद्वाद से जीते पथ प्रतिपादक हैं।
ज्ञान परीषह सहते मुख से कभी न कहते हम ज्ञानी,
ज्ञान कहाँ है तुममें इतना महा अधम हो अज्ञानी।।८५।।

अर्थ – श्रेष्ठ सिद्धान्त का अनुवादक तथा आगम और युक्ति के द्वारा वादों–शास्त्रार्थों को जीतने वाला होकर भी मुनि मन से यह शब्द न कहे कि तू मूर्ख है और यह विद्वान्।।८५।।

विनयतो जितबोधपरीषहः, श्रुतविदा जितचित्तकारी सह।
दिशतु मे सुमतिं तु जिनालयः स जयताः सुवि साधुगुणालयः।।

नम्र भाव से ज्ञान परीषह जीत-जी रहे मतिवर हैं,
तत्त्व ज्ञान से मत्त चित्त को किया नियंत्रित यतिवर हैं।
प्रभु पद में रत हुए मुझे भी होने सन्मति दान करें,
निलयगुणों के जय हो गुरु की मम गति का अवसान करें।।८६।।

अर्थ – जिसने प्रज्ञापरिषह को जीत लिया है, जिसने शास्त्रज्ञ मुनि के साथ मनरूपी हाथी को वश किया है, जो जिनेन्द्र भगवान् में लीनता को प्राप्त है तथा साधु के मूलोत्तरगुणों का स्थान है वह साधु मेरे लिये सुबुद्धि प्रदान करे तथा उनकी जय हो।।८६।।

परिषहोऽस्तु निजानुभवि श्रुतं, ह्यपि मितं शिवदं बुधविश्रुतम्।
बहुतरं तु तृणं सहसाप्यलं, दहति चाग्निकणी भुवि साप्यलम्।।

सहो सदा अज्ञान परीषह नियोग है यह शिव मिलता,
अल्पज्ञान पर्याप्त रहा यदि निज अनुभवता भव टलता।
बहुत दिनों का पड़ा हुआ है सुमेरु सम तृण ढेर रहा,
एक अनल की कणिका से बस ! जल मिटता, क्षण देर रहा।।८७।।

अर्थ – अल्पश्रुतज्ञानपरिषह भले ही रहे परन्तु आत्मानुभव से सहित, विद्वज्जनप्रसिद्ध सीमित श्रुतज्ञान भी मोक्ष प्रदान करने वाला है; क्योंकि पृथिवी पर प्रसिद्ध अग्निकणों का समूह भी विपुल तृणों को शीघ्र ही भस्म कर देता है।।८७।।

व्रतवता प्रचुरः समयो गतः, पिहितखेन मयाजितयोगतः।
मयि न बोधरवि र्ह्यभवोदित, इति चलो भव मा समबोधितः।।

सत्पथ चलता महाव्रती हो प्रचुर समय वह बीत गया,
इन्द्रिय योगों को वश करके गाता आतम गीत जिया।
किन्तु अभी तक जगी न मुझमें बोध भानु की किरण कहीं,
यूँ न सोचता, मुनिवर तजता समता की वह शरण नहीं।।८८।।

अर्थ – हे अगव ! हे संसारातीत ! व्रतधारण करने वाले मुझ जितेन्द्रिय ने अविचलित ध्यान से बहुत समय व्यतीत किया है फिर भी मुझमें ज्ञानरूपी सूर्य उदित नहीं हुआ ऐसा विचारकर समीचीन रत्नत्रय से विचलित न होओ।।८८।।

असि कुधीर्महसा वचसानया, ह्युपकृता जगती त्वयि सानया।
तव मति र्न हि वित्पयसा धुता, त्विति वचः सहतां किमु साधुता।।

महा मूढ़ है, साधु बना है, शुभकृत जीवन किया नहीं,
भविकजनों को सदुपदेश दे उपकृत अब तक किया नहीं।
महा मलिन मति चिर से तेरी ज्ञान-नीर से धुली नहीं,
सहे वचन यूँ 'व्यर्थ साधुता' अभी आँख तव खुली नहीं।।८९।।

अर्थ –अयि साधो ! हे मुने ! 'तू दुर्बुद्धि है, इस दुबुर्द्धि के कारण तूने अपने वचन और तेज से नयविज्ञानशून्य पृथिवी को उपकृत नहीं किया अर्थात् उसे उपदेश देकर अनुगृहीत नहीं किया। वास्तव में मेरी बुद्धि ज्ञानरूपी जल से धुली नहीं है। तेरा साधुपन क्या है? कुछ भी नहीं' इस प्रकार के वचनों को सहन कर।।८९।।

समुपयोगवती मम वा सुधीः ! गुणविभासु रता तु शिवासु धीः।
कथमहं तु तदास्मि कुधीरतः, परिषहं सहतेन्विति धीरतः।।

बच करके अशुभोपयोग से जब शुभ शुचि उपयोग धरूँ,
अक्षय सुख देने वाले मुनि-गुण-गण का उपभोग करूँ।
किस विध फिर मैं हो सकता हूँ कुधी, कभी नहिं हो सकता,
सहता यूँ अज्ञान परीषह मन का मल वह धो सकता।।६०।।

अर्थ -- 'तू कुधी है--मूर्ख है' इत्यादि दुर्वचन सुनकर जो कुपित हो प्रत्युत्तर देता है वह परिषहविजयी नहीं है, यह कहते हैं--हे सुधीः! हे विद्वन्मन्य ! मेरी बुद्धि समीचीन उपयोग से सहित है और कल्याणकारिणी गुणों की दीप्ति में लीन है, तब मैं कुधी कैसे हूँ। इस प्रकार जो उत्तर देता है वह क्या धीरता से अज्ञानपरिषह को सहता है? अर्थात् नहीं सहता।।६०।।

मम विदावरणेन तिरोहितं, शुचिबलं यदनेन गिरोहितम्।
सुरजसा कलितं शुचिदर्शनम्, झटिति फूत्करणात् जिन ! दर्शनम्।।

ज्ञानावरणादिक से चिर से भला-बोध बल मलिन वही,
सहने से अज्ञान परीषह निश्चित होता विमल सही।
उड़-उड़कर आ रज-कण चिपके धूमिल फलतः दर्पण हो,
जल से शुचि हो जिनमत गाता इसे सदा नति अर्पण हो।।६१।।

अर्थ -- हे जिन ! मेरा जो निर्मल बल अथवा ज्ञान, ज्ञानावरण कर्म के उदय से आच्छादित था। उसे इस निन्दक ने अपनी वाणी से प्रकट कर दिया है। उचित ही है क्योंकि उत्तम रज से युक्त दर्पण फूँकने से शीघ्र ही उज्ज्वल दिखने लगता है।।६१।।

मम गुणेष्वधुनापि न वृद्धयः, समुदिता मुदिता परिसिद्धयः।
इति न गच्छति साधुरुदासतां, न हि विमुञ्चति तां गुरुदासताम्।।

चिर से दीक्षित हुआ अभी तक, ऋद्धि नहीं कुछ सिद्धि नहीं,
तथा गुणों में ज्ञानादिक में लेश मात्र भी वद्धि नहीं।
ऐसा मन में विचार कर मुनि उदासता का दास नहीं,
होकर परवश कभी त्यागता जिनमत का विश्वास नहीं।।६२।।

अर्थ – इस समय भी – दीर्घ तपस्या के बाद भी मेरे ज्ञानादि गुणों में न वृद्धियाँ हुई और न हर्ष को बढ़ाने वाली सिद्धियाँ प्रकट हुई। ऐसा विचार कर साधु उदासता को प्राप्त नहीं होता और न दीर्घकाल से चली आयी गुरुसेवा को छोड़ता है।।६२।।

जगति नाप्यधुना यशसा सितः, स हि यमो जिनशासनशासितः।
निरतिशायि ततो जिनदर्शन-मिति न संशयितः समदर्शनः।।

जिन शासन से शासित होकर व्रत पालूँ अविराम सही,
किन्तु हुआ ना ख्यात जगत में यश फैला ना नाम कहीं।
रहित रहा हो अतिशय गुण से जिन दर्शन यह लगता है,
समदर्शन युत मुनि मन में ना ऐसा संशय जगता है।।६३।।

अर्थ– जगत् में जिनशास्त्रोपदिष्ट वह संयम इस समय भी यश से धवल नहीं हुआ। इस कारण जिनधर्म अतिशय से रहित है ऐसा समदर्शी मुनि को संशय नहीं करना चाहिये।।६३।।

करणमानसजं लघु वैहिकं, सुखमितं न मया किमु वै हि कम्।
जिनपशासनमानविनाशनं, न हि करोति स एवमनाशन !।।

अल्प मात्र भी ऐहिक सुख औ इन्द्रिय सुख वह मिला नहीं,
फिर, किस विध निर्वाण अमित सुख मुझे मिलेगा भला कहीं।
मुनि हो ऐसा कहता नहिं जिन-मत का गौरव नहिं खोता,
रहा अदर्शन यही परीषह-विजयी होता सुख-जोता।।६४।।

अर्थ – हे अविनश्वर भगवन् ! मैंने इन्द्रिय और मन से होने वाला थोड़ा भी लौकिक सुख प्राप्त नहीं किया फिर पारलौकिक सुख की तो बात ही क्या है? इस प्रकार विचार कर वह मुनि जिनशासन के सन्मान का नाश नहीं करता।।६४।।

जिनमतोन्नतितत्परजीवनं, विमलदर्शनवत् नदजीवनम्।
भवतु वृत्तवतां खलु वार्पित-परिजयोऽस्तु यदेष समर्पितः।।

जिन मत की उन्नति में जिनका जीवन तत्पर लसता है,
उजल सलिल से भरा सरित-सा जिन में दर्शन हँसता है।
रहा अदर्शन परिषहजय यह प्रमुख रहा मुनि यतियों का,
उनके चरणों में नित नत हूँ विनशन हो चहुँगतियों का।।६५।।

अर्थ – यतश्च साधुओं के लिये यह परिषहजयग्रन्थ समर्पित है अतः इसके फलस्वरूप उनका जीवन जिनधर्म की उन्नति में तत्पर रहे, निर्मल सम्यग्दर्शन से सहित हो महानदी के जल के समान गतिशील हो और निश्चय से अर्पित–विवक्षित अदर्शनपरिषह पर विजय प्राप्त करने वाला हो।।६५।।